

E-ISSN: 2709-9369

P-ISSN: 2709-9350

[www.multisubjectjournal.com](http://www.multisubjectjournal.com)

IJMT 2020; 2(1): 48-51

Received: 04-01-2020

Accepted: 28-01-2020

**डॉ० राजरानी शर्मा**

एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती  
महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,  
दिल्ली, भारत

## हिन्दी सिनेमा और बदलता हुआ भारतीय समाज

### डॉ० राजरानी शर्मा

#### प्रस्तावना

दृश्य-श्रव्य माध्यम की एक प्रमुख विधा के रूप में, आज समाज के हर वर्ग तक सिनेमा की पहुँच है। सिनेमा के माध्यम से, बहुत प्रभावशाली तरीके से विस्तृत जनसमुदाय तक बात पहुँचाई जा सकती है। चित्रपट अभिव्यक्ति का सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है, जो किसी घटना या विचार को मनमोहक ढंग से प्रस्तुत करता है। यह व्यक्ति के मन को अंदर तक स्पर्श करता है। सिनेमा केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, वह तो अतीत का अभिलेख, वर्तमान का चितेरा और भविष्य की कल्पना है। सामाजिक परिवर्तन लोकजागरण तथा बौद्धिक क्रान्ति की दिशा में भारतीय सिनेमा अविस्मरणीय है। यह ऐसा प्रभावकारी माध्यम है जिसने सभी उम्र के लोगों के मानस को झंकृत कर दिया है।<sup>1</sup>

सन 1913 में आरम्भ हुआ सिनेमा 2020 में प्रवेश कर चुका है। इन एक सौ सात वर्षों में भारतीय समाज में असंख्य परिवर्तन आए, और सिनेमा में भी बहुत बदलाव हुए। समाज और सिनेमा का सफर साथ-साथ चला। बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में बनी फिल्मों में अंग्रेजी की दमनकारी नीति, साहूकारों द्वारा किसानों के शोषण, सांस्कृतिक चेतना और पुनर्जागरण तथा देशभक्ति की भावना से लबरेज फिल्मों का निर्माण हो रहा था। यह समय भारत के पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय उत्थान का भी है। इन दोनों दशकों की प्रमुख फिल्मों में 'सावकारी पाश', 'अयोध्या का राजा', 'संत तुकाराम', 'संत ज्ञानेश्वर', 'चंदीदास', 'इन्कलाब', 'जागरण' आदि थी। इस काल की फिल्मों में "यह दशक चूँकि सक्रिय रूप से राष्ट्रीय जन जागरण और स्वतन्त्रता आन्दोलन की शुरुआत का दशक था इसलिए भारतवासियों के हृदय में सामाजिक पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय उत्थान की भावना प्रबल हो चुकी थी"<sup>2</sup>

चौथे दशक की हिन्दी फिल्मों का विषय साम्प्रदायिक सद्भाव, देश-प्रेम और विविध समस्याओं पर था। इसी दशक में देश स्वतन्त्र भी हुआ किन्तु विभाजन की त्रासदी का दंश भी झेला। अतः फिल्मों में समाज की बदलती परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। वी. शान्ताराम की 'पड़ोसी', महबूब खान की 'हुमायूँ', 'चल चल रे नौजवान' और 'ज्वारभाटा' में साम्प्रदायिक सद्भाव का संदेश दिया गया। महबूब खान की 'रोटी' और बरुआ की 'जवाब' फिल्म में 'वर्ग-संघर्ष' और सामाजिक व्यवस्था को केन्द्र में रखा गया। के. ए. अब्बास की 'धरती के लाल' फिल्म में 1943-44 में बंगाल के भीषण अकाल से उत्पन्न भूखमरी, किसानों की त्रासदी और पलायन का चित्रण है। इसी दौर में महबूब खान की 'अनमोल घड़ी', राजकपूर की 'आग' और 'बरसात/किदार शर्मा की 'नीलकमल' फिल्में बनीं जिनका विषय प्रेम त्रिकोण और अमीर-गरीब लड़के-लड़की की प्रेमकथाएँ थीं। अतः "चालीस का दशक, एक ओर जहाँ सामाजिक और राष्ट्रीय परिवेशों में परिवर्तन का दशक रहा है। वहीं भारतीय सिनेमा की शैली, विषय-वस्तु और प्रस्तुति पर यह परिवर्तन साफ-साफ झलकता है। हिन्दी सिनेमा पहले की अपेक्षा अधिक रुमानी होता चला गया। यह दशक गीत-संगीत से भरे मनोरंजन फिल्मों की एक अलग शैली की शुरुआत का दशक रहा है।"<sup>3</sup>

पाँचवे दशक में, भारत की आज़ादी के उपरान्त बड़ी संख्या में युवा वर्ग का रोजगार हेतु महानगरों में पलायन होने लगा। कुछ कामयाब हुए तो कुछ अपराध के दलदल में धँसते गए। सरकार और समाज सुधारकों का ध्यान भी समाज में व्याप्त कुरीतियों की ओर गया। अतः इस दौर की फिल्मों में भी समाज में व्याप्त रूढ़ियों और युवाओं-बेरोजगारों की आर्थिक बदहाली का चित्रण हुआ। राजकपूर की 'आवारा', 'श्री 420', बिमल रॉय की 'नौकरी', 'जागते रहो', 'प्यासा' आदि फिल्मों में नवयुवकों का अपराध की दुनिया में जाना और गाँवों से शहरों की ओर पलायन दिखाया गया है। 1953 में बिमल रॉय ने श्रेष्ठ फिल्म 'दो बीघा जमीन' बनाई जो रोजगार के लिए महानगरों की ओर जाने वाले लोगों की त्रासद जिन्दगी पर आधारित थी। "भारत की आज़ादी के बाद भारतीय हिन्दी सिनेमा की यह पहली ऐसी सशक्त फिल्म थी जो तत्कालीन भारत की ग्रामीणसामाजिक अर्थव्यवस्था, जमींदारों द्वारा छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों का आर्थिक शोषण किए जाने से उत्पन्न समस्याओं से जूझने की भावना पर आधारित थी"<sup>4</sup>

हिन्दी फिल्मों में प्रेमकथाएँ अब भी अनवरत चल रही थीं। गुरुदत्त की 'बाजी', 'आर-पार' नितिन बोस की 'दीदार' आदि। इस दशक की उल्लेखनीय फिल्मों में महबूब खान की 'मदर इंडिया' (भारत की ओर से ऑस्कर के लिए नामित पहली फिल्म), बी. आर. चोपड़ा की 'नया दौर' (ग्रामीण

**Corresponding Author:****डॉ० राजरानी शर्मा**

एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती  
महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,  
दिल्ली, भारत

अर्थव्यवस्था पर औद्योगिकीकरण का दुष्प्रभाव), यश चोपड़ा की 'धूल का फूल' (तू हिन्दू बनेगा न मुसलमान बनेगा), बिमल रॉय की 'सुजाता' (छुआछूत पर आधारित), मनमोहन देसाई की 'छलिया' (देश-विभाजन की त्रासदी) आदि थीं। 1960 में रिलीज के. आसिफ की 'मुगलेआज़म' की चर्चा किए बिना, हिन्दी फिल्मों का इतिहास बताया नहीं जा सकता। फिल्म सैट की भव्यता, किरदारों की वस्त्र-सज्जा, पैसे संवाद और पृथ्वीराज कपूर की बेहतरीन संवाद अदायगी के लिए, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित इस फिल्म ने इतिहास ही रच दिया।

सदी के छठे दशक में हिन्दी फिल्मों में कल्पना आधारित मनोरंजन की शुरुआत हुई। नितिन बोस की 'गंगा-जमुना' ने दो बिछुड़े भाइयों की फिल्मों का आरम्भ किया जिसमें एक भाई परिस्थितिवंश डाकू बनता है और एक पुलिस इंस्पेक्टर या यूँ कहा जा सकता है कि एक ही पात्र के डबल रोल या ट्रिपल या उससे भी ज्यादा रोल की फिल्में बनने लगीं। 'राम और श्याम' में दिलीप कुमार का, 'गोरा और काला' में राजेन्द्रकुमार का, 'सीता और गीता' में हेमामालिनी का 'जुड़वाँ' में सलमान खान का 'दुप्लीकेट' में शाहरुख खान का डबल रोल था। बिछुड़े भाइयों की कथा का सूत्र पकड़कर ही दो सुपरहिट फिल्में 'धर्मवीर' और 'सुहाग' बनीं। फिल्मी पात्र के डबल रोल की पराकाष्ठा हुई 'नया दिन नई रात' फिल्म में, जिसमें संजीव कुमार ने नौ अलग-अलग किरदारों का अभिनय किया।

इस दौर की फिल्मों में भी सामन्ती प्रथा और समाज समस्याओं पर आधारित फिल्में बन रही थीं। 1962 में आई अबरार अल्वी की 'साहिब, बीबी और गुलाम' में मीना कुमारी द्वारा निर्भाई गई 'छोटी बहू' की भूमिका यादगार रहेगी। इस फिल्म में बंगाल में समाप्त होती जमींदारी प्रथा, जमींदारों के अनैतिक आचरण और नारियों के अधिकारों के हनन का प्रभावशाली चित्रांकन है। राष्ट्रीय भावना और भारतीय संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाली फिल्मों में विजय आनन्द की 'गाइड', मनोज कुमार की 'उपकार' और देवानन्द की 'प्रेमपुजारी' चेतन आनंद की 'हकीकत' फिल्में बनीं। समाज में व्याप्त स्वार्थ-लोभ के कारण समाप्त होती मानवीयता एवं नैतिकता को उजागर करने वाली फिल्मों में 'संघर्ष', 'दोस्ती', राज खोसला की 'दो दोस्त' फिल्में प्रदर्शित हुईं। हिन्दी फिल्मों के छठे दशक में बनी दो फिल्म 'मेरा नाम जोकर' और बासु भट्टाचार्य की 'तीसरी कसम' का जिक्र आवश्यक हो जाता है। ये दोनों फिल्में अलग-अलग किन्तु सर्वथा नवीन धाराओं को लेकर चल रही थीं। 'तीसरी कसम' फिल्म कथाकार 'फणीश्वरनाथ रेणु' की आंचलिक कहानी पर आधारित है जिसका परिवेश बिहार के पूर्णिया जिले का एक गाँव है। नौटंकी की हीराबाई और बैलगाड़ी चालक हीरामन की प्रेमकथा को जीने वाले राजकपूर और वहीदा रहमान की अदाकारी, परिवेश और संजीव आंचलिक परिवेश ने इस फिल्म को यादगार बना दिया। 'मेरा नाम जोकर' में राजकपूर ने "इंसानी संवेदनशीलता, रिश्तों की गहराई और स्वार्थ से धिरे लोगों की मानसिकताओं को एक सर्कस के जोकर की जिन्दगी के सहारे इतना प्रभावशाली ढंग से दिखाया गया था कि यह फिल्म भारतीय हिन्दी सिनेमा की चंद महत्वपूर्ण फिल्मों में हमेशा याद की जाती रहेगी"।<sup>15</sup> इसी दशक में बनी फिल्मों में जिंदादिल कैसर मरीज की कथा 'आनन्द' में मानसिक रोगियों का इलाज करते स्वयं मानसिक रोगी बनी नर्स की कथा 'खामोशी' में हैं।

सातवें दशक के आरम्भ में ही हिन्दी सिनेमा मुख्यतः दो धाराओं में विभाजित हो गया—

1. मनोरंजन पर आधारित व्यावसायिक सिनेमा—
2. कला सिनेमा या समानान्तर सिनेमा

"एक तरफ बड़े-बड़े बजटों की, आम लोगों के रंग-बिरंगी सपनों को संजोए हुए, नाच-गाना, प्रेम कहानियों और मारपीट से भरपूर,

दर्शकों के लिए उनका पूरा पैसा वसूल के सिद्धान्त पर फिल्में बनती रही और ठीक इसके समानान्तर शुरू हुआ कम बजट की फिल्मों का निर्माण जिसमें आम लोगों के जीवन पर, देश की विकराल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से प्रभावित और यथार्थवादी कथाओं पर आधारित सार्थक कला फिल्में शामिल थीं। इन फिल्मों की कथाओं में मुख्य रूप से, जमींदार या पूँजीपतियों द्वारा गाँव के मजदूरों का आर्थिक और सामाजिक शोषण, अंधविश्वास और धार्मिक रूढ़िवादी मिथकों के विरुद्ध यथार्थ की पृष्ठभूमि, महानगरों में गरीब और मध्यवर्गीय परिवारों की सामाजिक और आर्थिक दुर्दशा, मिल-मजदूरों की समस्याएँ, गाँव के सामन्ती शासकों द्वारा गरीब परिवारों और दलित वर्ग की महिलाओं का दैहिक शोषण, युवाओं के अंदर बढ़ती हुई असन्तोष की भावनाओं, छूत-अछूत जैसे भेदभाव, रोजगार की तलाश में पलायन कर रहे लोगों की व्यथाएँ आदि जैसी कई मानवीय और सामाजिक समस्याओं पर आधारित विषयवस्तु का समावेश अधिकांशतः हुआ करता था।"<sup>16</sup>

समानान्तर सिनेमा की शुरुआत मृणाल सेन की 'भुवनशोम' मणि कौल की 'उसकी रोटी' और बासु चटर्जी की फिल्म 'सारा आकाश' से हुई। सत्तर के दशक के आरम्भ में, श्याम बेनेगल की बहुचर्चित फिल्म 'अंकुर' जिसमें सामन्तों द्वारा दलित भूमिहीन मजदूर और उसकी पत्नी के दैहिक शोषण का चित्रण है। सत्यु की 'गरम हवा' जिसमें भारत-पाक विभाजन की मार्मिक अभिव्यक्ति है। कला सिनेमा के क्षेत्र में श्याम बेनेगल ने 'चरणदास चोर', 'भूमिका' और 'जुनून' का निर्माण करते हुए फिल्म इंडस्ट्री में महिला कलाकारों के दैहिक शोषण और 1857 के विद्रोह की संवेदनात्मक पृष्ठभूमि को उजागर किया। आदिवासियों और सामन्तों की अंतर्कलह और शोषण पर आधारित गोविंद निहलानी की चर्चित फिल्म 'आक्रोश' 1980 में रिलीज हुई।

समानान्तर सिनेमा की कड़ी में मुंशी प्रेमचन्द की कहानी पर आधारित, सत्यजित रे की 'सद्गति' फिल्म बहुत चर्चित रही। छूत-अछूत की कथावस्तु द्वारा बताया गया है कि कैसे मानसिक रूप से गुलाम व्यक्ति अपना शोषण होने देता है और शोषण सहते-सहतेमर जाता है। इस दशक की अन्य चर्चित फिल्मों में कुंदन शाह की 'जाने भी दो यारो', गोविन्द निहलानी की 'अर्द्धसत्य', तमस', 'दृष्टि', श्याम बेनेगल की 'मंडी', सईद अख्तर मिर्जा की 'मोहन जोशी हाजिर हो' प्रकाश झा की 'दामुल', केतन मेहता की 'मिर्च-मसाला', और 'सलीम लंगड़े पर मत मारो' आदि हैं इनमें शोषितों-पीड़ितों, दलितों, महिलाओं पर सामन्तों, ठेकेदारों, सरकारी अफसरों के जुल्मों का, उनमें परस्पर टकराव का चित्रांकन है।

व्यावसायिक सिनेमा में 'सुपरस्टार' की नई संकल्पना जन्म ले रही थी। 'सुपरस्टार' से अभिप्राय है वह अभिनेता/अभिनेत्री जिसकी लगातार कई फिल्में हिट हों, जिनका नाम ही दर्शकों को सिनेमाहॉल तक खींच लाने में सक्षम हो। व्यावसायिक फिल्में चुट्टीले संवादों और मधुर गीत-संगीत की वजह से भी बहुत प्रसिद्ध होती थी। हिन्दी के पहले सुपरस्टार राजेश खन्ना ने तीन साल में पन्द्रह हिट फिल्में दी थीं— आराधना, इत्तेफाक, दो रास्ते, बंधन, खामोशी, डोली, सफर, आन मिला सजना, सच्चा झूठा, कटी पतंग, आनन्द, महबूब की मेहन्दी, हाथी मेरे साथी, दुश्मन, द ट्रेन। इस दौर की 'शोले' फिल्म के संवाद आज भी लोगों की जबान पर हैं—'कितने आदमी थे', 'इतना सन्नाटा क्यों है भाई' आदि संवादों से बच्चे भी परिचित हैं 1973 में आई राजकपूर की 'बाँबी' और 1978 में रिलीज 'सत्यम शिवम सुन्दरम' ने फिल्मों में नायिका के देह-प्रदर्शन द्वारा दर्शकों की कामुक भावनाओं को भड़काकर अच्छा बिज़नेस किया। बाद की फिल्मों में नायिकाओं के अंग-प्रदर्शन में इन फिल्मों की बम्पर सफलता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आठवें-नवें दशक की सफल व्यावसायिक फिल्मों में 'मासूम', 'सदमा', 'घायल', 'मेरी जंग', 'शराबी', 'मिस्टर इण्डिया', 'लावारिस', 'प्रेम रोग', 'चांदनी', 'मैंने प्यार किया', 'तेजाब', 'कयामत से कयामत तक', 'एक दूजे के लिए', 'नमक हलाल' आदि फिल्मों में कॉमेडी, एक्शन, नाच-गाना, आइटम सांग, शरीर की नुमाइश, सभी वे मसाले थे जो दर्शकों का भरपूर मनोरंजन करते थे। अमिताभ बच्चन इसी समय के स्टारडम की उपज थे। 'डॉन', 'लावारिस', 'मुकद्दर का सिकन्दर' आदि फिल्मों में अमिताभ बच्चन का ऐसा किरदार था जिसमें वह जीरो से हीरो बने, फर्श से अर्श तक पहुँचे। परिणामस्वरूप अमिताभ बच्चन अभिनीत फिल्मों का दायरा हिन्दुस्तान के गरीब तबके तक पहुँचा। अमिताभ के पात्रों के साथ शोषित-पीड़ित जनता अपनी भावनाओं का साधारणीकरण करने लगी।

सफल कला फिल्मों का दौर बीसवीं सदी के अन्त तक भी चल रहा था। 1991 में सुधीर मिश्रा की 'धारावी' आई जिसमें एशिया की सबसे बड़ी झोपड़पट्टी में रहने वालों की व्यथा-कथा थी। 1992 में साहित्यकार धर्मवीर भारती के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आई जिसे श्याम बेनेगल ने निर्देशित किया था। मणिरत्नम की 'रोजा' और विधु विनोद चोपड़ा की 'मिशन कश्मीर' के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है। 'बाम्बे' फिल्म सन 1992-93 में मुम्बई में हुए दंगों के लिए मुसलमानों को दोषी ठहराते हुए शिवसेना की भूमिका पर पर्दा डालती है जबकि श्री कृष्ण आयोग की रपट से जाहिर हो चुका है कि शिवसेना ही उन दंगों के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थी।<sup>17</sup> देश-विभाजन पर 1997 में दीपा मेहता की 'अर्थ-1947' और 1999 में कमल हसन की 'हे राम' रिलीज हुई

इसी दशक में कुछ ऐसी फिल्में भी आईं जो ना तो पूरी तरह कला-फिल्में थीं नही व्यावसायिक थीं। इनमें 'माचिस', 'सरफरोश', 'रिफ्यूजी', 'दरमिया', 'दायरा', 'बैंडीड क्वीन', 'जख्म', 'सरदार', 'तक्षक', 'लम्हे', 'रुदाली' आदि फिल्में अपनी नवीन विषयवस्तु के कारण चर्चित रहीं।

इस दशक की व्यावसायिक फिल्मों में फिल्मकारों ने सिनेमा से संबंधित प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। ये परिवर्तन विषय, तकनीक, कथानक, प्रस्तुतिकरण, संगीत तथा अभिनय आदि के क्षेत्र में थे जिन्होंने फिल्मों के विकास और सफलता की दिशा बदल दी। 'बार्डर', 'हम आपके हैं कौन', 'बाजीगर', 'दामिनी', 'करन-अर्जुन', 'रंगीला', 'घायल', 'फूल और कॉटे', 'हिना' आदि इस दौर की सफल व्यावसायिक फिल्में थीं। इस दौर की सर्वाधिक सफल फिल्मों में से एक थी 1995 में रिलीज आदित्य चोपड़ा की 'दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे' इस फिल्म के बाद शाहरुख खान की छवि 'लवर ब्याय' के रूप में स्थापित हो गई।

### इक्कीसवीं सदी का हिन्दी सिनेमा और समाज

1913 से आरम्भ हुआ हिन्दी सिनेमा 100 वर्ष की यात्रा पूरी कर, देश की सीमाओं को लाँघकर विश्व-सिनेमा में अपनी जगह बना चुका है। सम्पूर्ण विश्व के प्रमुख विकसित देशों में तकनीकी, चिकित्सा या अन्य क्षेत्र में दक्ष पेशेवर के रूप भारतीय अपनी सेवाएँ दे रहे हैं, इसी कारण भारतीय सिनेमा ने दुनिया के सिनेमा बाजार में अपनी प्रमुख जगह बना ली है। सूचना और तकनीक के क्षेत्रों में आई असाधारण क्रान्ति ने देशों की दूरियाँ कम कर दी हैं। सेटलाइट और तकनीक के अन्य साधनों के कारण विश्व सिनेमा गाँवों-शहरों-देशों की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ 'ग्लोबल विलेज' तक जा पहुँचा है। पहले की अपेक्षा अब सिनेमा का दायरा भी बढ़ गया है।

पहले प्रसिद्ध एकल सिनेमाघरों का चलन भी समाप्त हो रहा है। शॉपिंग और मॉल संस्कृति ने सिनेमा बाजार को भी प्रभावित

किया है। अब एकल पर्दे वाले सिनेमाघरों का दौर समाप्त हो रहा है और उसके स्थान पर मल्टी स्क्रीन वाले आधुनिक सुख-सुविधाओं और नवीन तकनीक से लैस सिनेमाघरों की लोकप्रियता में बढ़ोतरी हो रही है। दर्शकों को अब एक ही स्थान पर शॉपिंग, खाना-पीना, घूमना-फिरना और सिनेमाघर चाहिए।

1991 के उदारीकरण के उपरान्त देश के द्वार विदेशी कंपनियों के लिए खोले गए। परिणामतः युवाओं को आकर्षक वेतन पैकेज मिलने लगे। देश में आर्थिक समृद्धि आने के उपरान्त लोग इतने सक्षम भी हो गए कि मनोरंजन और सैर-सपाटे पर अधिक खर्च करने लगे। "फिल्म को लोकप्रिय बनाने और उन्हें अधिक से अधिक दर्शकों तक पहुँचाने के लिए मसाला फिल्में बनाई जाती हैं जिनमें आइटम साँग से लेकर गाली-गलौज तक को अपनाया जा रहा है। हिंसा, अपराध और चालू संगीत के जरिए उन्हें अगली सीटों को भरने लायक बनाया जा रहा है।"<sup>18</sup> सूचना तकनीक में क्रान्ति के कारण भी निर्माता-निर्देशकों पर लगातार नया करने और दिखाने का दबाव बना रहता है। इसलिए फिल्म-निर्माण में नित नए प्रयोग किए जा रहे हैं। इक्कीसवीं सदी में हिन्दी सिनेमा ने विश्वस्तर पर प्रसिद्धि प्राप्त करके भारतीय हिन्दी सिनेमा को विश्व में नई पहचान दी है। इस इक्कीसवीं सदी में फिल्में अब भारत के साथ-साथ विश्व में भी प्रदर्शित की जाती हैं। फिल्मों से प्राप्त कमाई का एक बड़ा हिस्सा विदेशों से भी आता है। जैसे 'लगान', 'गदर', 'कोई मिल गया', 'कल हो ना हो', 'वीर-जारा', 'रंग दे बसन्ती', 'लगे रहो मुन्ना भाई', 'चक दे इण्डिया', 'रब ने बना दी जोड़ी', 'गजनी', 'सिंघम', 'बाहुबली' आदि। "हिन्दी सिनेमा के इतिहास में इक्कीसवीं सदी का समय हिन्दी फिल्म इंडस्ट्री के लिए अधिक संवेदनशील है, इस युग में दर्शकों को ध्यान में रखकर उनकी इच्छा और माँग के अनुरूप फिल्में बनाए जाने की एक प्रतिद्वंद्विता-सी चल रही है। जिसमें वर्तमान जीवन के समस्त कोणों तथा अछूते प्रसंगों को, हाशिए के बाहर के व्यक्ति को ध्यान में रखकर, फिल्म निर्माण करने का प्रयास चल रहा है। जिसमें बॉक्स ऑफिस पर जोरदार दस्तक देने और पूंजीगत लाभ कमाने का प्रयास भी सम्मिलित है।"<sup>19</sup>

'लगान', फिल्म में किसान एकजुट होकर क्रूर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एकजुट होकर उन्हें मैच में परास्त कर देते हैं। 'लगान' में भारतीयों और अंग्रेजों के बीच मात्र एक मैच नहीं था वर्न शोषक के विरुद्ध शोषितों का विद्रोह था। 'पिपली लाइव' फिल्म में किसानों द्वारा की जा रही सामूहिक आत्महत्या के गंभीर मुद्दे को व्यंग्यात्मक रूप में चित्रित किया है। 'नो वन फील्ड जैसिका' फिल्म में उस बहुचर्चित घटना को आधार बनाया गया है जिसमें जैसिका लाल द्वारा शराब न दिए जाने से तत्कालीन राष्ट्रपति के नाती मनु शर्मा ने सरेशाम, गोली मारकर हत्या कर दी थी। जैसिका के परिवार विशेषतः उसकी बहन ने इस केस को निर्णायक मोड़ तक पहुँचाया और समाज के तथाकथित रौबदार वर्ग को यह संदेश दिया कि कानून अंधा हो सकता है पर बहरा नहीं है।

भारतीय जनमानस उन्नाव दुष्कर्म-काण्ड को नहीं भूला होगा जिसमें तत्कालीन सत्तासीन पार्टी के विधायक ने अपने धन-बल से एक नाबालिग से दुष्कर्म किया था और उस पर सत्ता का दुरुपयोग यह कि उसी के पिता को अवैध रूप से गिरफ्तार कर पुलिस कस्टडी में ही उसकी हत्या भी कर दी गई। फरवरी 2020 में ही माननीय न्यायालय ने इस विधायक को दोषी भी ठहराया है। इस पूरे घटनाक्रम पर 2019 में आयुष्मान खुराना अभिनीत फिल्म रिलीज हुई थी- आर्टिकल-15 अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 15 में वर्णित मौलिक अधिकार- समानता का अधिकार। एड्स ग्रसित लोगों के प्रति हमारे समाज की संकीर्ण मानसिकता को 'फिर मिलेंगे' तथा 'माइ ब्रदर निखिल' जैसी फिल्मों में दिखाया गया है। आजकल के बच्चों और युवा पीढ़ी पर शिक्षा में,

प्रतियोगी परीक्षाओं में अव्वल रहने का दबाव है। मानसिक रूप से कमजोर बच्चे इस तनाव को नहीं झेल पाते और आत्महत्या जैसा गंभीर कदम उठा लेते हैं। 'तारे जमी पर', 'श्री इडियट्स', 'फालतू' और 'मुन्ना भाई एम. बी. बी. एस.' इसी प्रकार की फिल्में हैं जिनमें वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर असंख्य प्रश्नचिन्ह लगाए गए हैं। आरक्षण के मुद्दे ने भी भारतीय समाज को दो भागों में बाँट दिया है। आरक्षण का लाभ उठाने वाला तबका स्वर्णजातियों को अपने शोषण का जिम्मेदार मानता है और स्वर्णजातियाँ, आरक्षण प्राप्त जातियों को अपना विरोधी समझती हैं क्योंकि उनमें कम योग्यता होने के बावजूद आरक्षण प्राप्त अभ्यर्थियों को नौकरी मिल जाती है। 2011 में रिलीज निर्देशक दामुल झा की 'आरक्षण' इसी समस्या को उठाती है।

इक्कासवीं सदी में नारियाँ भी अपने सम्मान और स्वाभिमान के लिए संघर्ष कर रही हैं। संघर्ष पहले से ही चल रहा था लेकिन औरतों की सफलता और स्वतन्त्रता को अब समाज ने भी स्वीकृति देनी प्रारम्भ कर दी है। 'क्या कहना' फिल्म जिनमें बिनव्याही नायिका बच्चों को जन्म देती है 'मानसून वेडिंग' में बाल यौन शोषण और शादी की आड़ में धोखा और विश्वासघात को दिखाया गया। 2001 में आई मधुर भंडारकर की फिल्म 'चाँदनी बार' में मुम्बई के अंडरवर्ल्ड, वेश्यावृत्ति और डांस बार में काम करने वाली लड़कियों की व्यथा को बताया गया। 2001 में ही राजकुमार संतोषी की फिल्म 'लज्जा' में सामाजिक कुरीतियों की आड़ में महिलाओं की दुर्दशा को दिखाया गया। 2003 में निर्देशक मनीष झा की 'मातृभूमि' में भी महिलाओं की घटती समस्या को दिखाया गया। 2020 में एसिड अटैक पीड़िता लक्ष्मी अग्रवाल की जिन्दगी पर आधारित फिल्म 'छपाक' आई और 28 फरवरी 2020 को अनुभव सिन्हा की 'थप्पड़' रिलीज हुई जो घरेलू हिंसा और स्वाभिमान पर चोट की शिकार महिला की कहानी है। वस्तुतः नारी की अस्मिता और स्वतन्त्रता कि जो स्वीकृति समाज में आ रही है सिनेमा भी उससे प्रभावित हुआ है। 'सलाम नमस्ते', 'लव आज कल', 'इश्किया', 'बैंड बाजा बारात', 'अनजाना-अनजानी' इसी प्रकार की फिल्में हैं। 'फैशन' और 'कॉरपोरेट' फिल्मों में नारी के उपभोगी रूप को दर्शाया गया है। खेल के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करने वाले खिलाड़ियों की जिन्दगी पर आधारित फिल्में भी इस दशक में बनी हैं जिनसे समाज भी प्रेरणा प्राप्त करता है। 'चक दे इण्डिया', चन्द्रा तोमर की जिन्दगी पर आधारित 'साँड की आँख', मैरीकाम की जिन्दगी पर 'मैरीकॉम' बबिता फोगाट के जीवन पर आधारित 'दंगल' और 'सुल्तान' आदि फिल्मों से समाज का एक बड़ा तबका प्रेरणा पाता है। 1983 के क्रिकेट विश्वकप पर आधारित फिल्म '83' भी रिलीज होने वाली है जिसमें पूर्व क्रिकेट टीम के कप्तान कपिल देव के योगदान को फिल्माया जाएगा।

2003 में आई निर्देशक प्रकाश झा की 'गंगाजल' मध्य प्रदेश की एक महिला पुलिस अधिकारी से प्रेरित होकर लिखी गई कहानी है। 'ओ माइ गॉड' सभी धर्मों में व्याप्त आडम्बर अंधविश्वासों को उजागर करती है। यह फिल्म तथाकथित धर्म के ठेकेदारों पर आघात करती हुई उनके गोरख धन्धे को भी प्रकट करती है। देश आज जहाँ तरक्की कर अंतरिक्ष में यान भेजकर पूरे विश्व में अपनी दमदार उपस्थिति दर्ज कर रहा है वही आज भी अंधश्रद्धा के नाम पर करोड़ों रुपये धार्मिक आडम्बर में खर्च किए जा रहे हैं।

देश के छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र आदि कुछ प्रान्तों में नक्सलवाद एक चुनौती के रूप में खड़ा है। हिन्दी फिल्में भी इस समस्या से अछूती नहीं रही। 'चक्रव्यूह' फिल्म में देश की राष्ट्रीय समस्या नक्सलवाद व भ्रष्टाचार को संयुक्त रूप से दर्शाया गया है। 'वर्तमान समाज में 'चक्रव्यूह' यह फिल्म कठोर सच्चाई को पेश करती है। यह संदेश भी देती है की अगर समय रहते समस्या का हल नहीं खोजा गया तो देश के दो सौ जिलों में फैला

नक्सलवाद भविष्य में पूरे देश को चपेट में ले लेगा"।<sup>10</sup> इक्कीसवीं सदी की एक और महत्वपूर्ण फिल्म है - 'रंग दे बसंती' जिसमें युवाओं के उग्र राष्ट्रवाद को दिखाया गया है। इस फिल्म में युवाओं को यह संदेश दिया गया है- अगर तुम्हें लगता है कि व्यवस्था खराब है तो उसे बदलने की कोशिश करें। इस फिल्म में आमिर खान और उसके दोस्त, व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का विरोध करते हैं। यह सिनेमा युवाओं को राष्ट्र के प्रति सोचने व उसे बदलने के लिए प्रेरित करता है। 'नो वन फिल्ड जेसिका' यह सिनेमा वास्तविक घटना पर आधारित है जिसका उद्देश्य है कि राष्ट्रवादी भावना समाज में निरंतर प्रवाहित होती रहे। 'चक दे इंडिया' फिल्म में धार्मिक अंधविश्वास, विभाजन का प्रभाव, मतभेद तथा लिंग भेद आदि सामाजिक भारतीय समस्याओं को गहराई से जानने की कोशिश की गई है। 'माइ' नेम इज खान दो व्यक्तियों के संबंध, व्यक्ति और राष्ट्र के सम्बन्ध की कहानी है। धर्म को आधार मानकर बनने वाली यह फिल्म धार्मिक राष्ट्रवाद को रेखांकित करती है। 'लगान' फिल्म में जनराष्ट्रवाद जन्म लेता है। यह फिल्म अहिंसा के रास्ते पर चलकर लक्ष्य को प्राप्त करने का संदेश देती है। फिल्म में धर्म निरपेक्षता पर विशेष बल दिया गया। भुवन की टीम में कोई अपने धर्म के लिए नहीं लड़ता बल्कि सब मिलकर पूरे प्रांत के लिए लड़ते हैं।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान आई फिल्मों की बात की जाय तो अब ऐसे नवीन और अछूते विषयों पर भी फिल्में बनने लगी हैं जिन पर बात करना भी समाज में वर्जित था। 'शुभमंगल सावधान' फिल्म का नायक 'स्तम्भन दोष से पीड़ित है, 'शुभमंगल ज्यादा सावधान' में समलैंगिकता के विषय को उठाकर 'गे रिलेशनशिप को छोटे शहरों में मान्यता दिलाने का प्रयास हुआ है। भाग दौड़, व्यस्त और तनाव पूर्ण जिन्दगी का दुष्प्रभाव प्रजनन क्षमताओं पर पड़ रहा है इस समस्या को 'विककी डोनर' फिल्म में उठाया गया है। वस्तुतः आज का सिनेमा किसी भी मर्यादा और वर्जना को स्वीकार नहीं करता। "समकालीन सिनेमा में राष्ट्रवाद धार्मिक रूप में उग्र राष्ट्रवाद के रूप में जन-राष्ट्रवाद के रूप में हमारे सामने आता है। जिसमें कुछ हिंसा के रास्ते पर भी जाकर लक्ष्य प्राप्त करने से नहीं चूकते हैं। यह सिनेमा राष्ट्रवाद को बचाने व उसके विरोधी समस्याओं से संघर्ष करने की प्रेरणा देता नजर आता है।"<sup>11</sup>

### संदर्भ ग्रन्थ

1. आधुनिक पत्रकारिता - डॉ. अर्जुन तिवारी - पृष्ठ - 222 - वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2004
2. भारतीय सिनेमा - एक अनन्त यात्रा, प्रसून सिन्हा - पृष्ठ - 87 श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली 2006
3. वही पृष्ठ - 98
4. वही पृष्ठ - 107
5. वही पृष्ठ - 122
6. वही पृष्ठ - 126-127
7. साझा संस्कृति, साम्प्रदायिक आतंकवाद और हिन्दी सिनेमा - जवरीमल परख, पृष्ठ - 77
8. भारतीय सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन- डॉ. देवेन्द्रनाथ सिंह, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, पृष्ठ-48, पैसिफिक पब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण-2012
9. वही, पृष्ठ-19
10. फिल्मों में सामाजिक मुद्दों के प्रभाव- विनोद आर्य ('मीडिया विमर्श' सिनेमा विशेषांक-3, जून 2013) पृष्ठ-44
11. समकालीन सिनेमा में राष्ट्रवाद- शौब्य कुमार पाण्डेय ('मीडिया विमर्श' सिनेमा विशेषांक-3, जून 2013) पृष्ठ-48